REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
VOLUME - 14 | ISSUE - 12 | SEPTEMBER - 2025

''छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य और शोध''

डॉ. श्यामता साहू
सहायक प्राध्यापक,
डॉ. सी. वी. रमन विश्वविद्यालय, कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)

सारांश

लोकसाहित्य ऐसी संश्लिष्ट रचना है, जिसमें शिष्ट साहित्य–सदृश समग्र विधाओं को परिभाषित कर निरखना–परखना बाह्य दृष्टि से भले ही उचित हो, आन्तरिक दृष्टि से कदापि संभव नहीं। यह जन–मन–जीवन–अनुभव का प्रारूप ही लोक द्वारा प्रदत्त एक सूत्र है, जो प्रगीत–तत्वों से मिलकर लोकगीत तथा कथा से जुड़कर लोकगाथा बनती है। इसी तरह संवादों में ढलकर लोकनाट्य और किस्सागोई का वैशिष्ट्य लेकर लोककथा बनती है। इसके बावजूद वह भावनाओं व विचारों के प्रवाह में एक–दूसरी लोकविधाओं को स्पर्श करती है। यही कारण है कि लोककथा, लोकगाथा या लोकनाट्य में विवाह का सन्दर्भ आने पर विवाह–गीत, प्रणय संपादन, ददरिया, विप्रलंभ की स्थिति में सुवा–गीत, युद्ध के गीतों में पंडवानी आदि अन्याय गीतों व लोक छंदों का आगमन होता है। लोकसाहित्य का लोक अभिप्राय ही उसे शिष्ट साहित्य से पृथक् करता है, जो आन्तरिक दृष्टि से एक होकर सार्वदेशिक तथा आंचलिक रंगों के प्रभाव से क्षेत्रीय बन जाता है। यही लोक अभिप्राय किसी लोक साहित्य की आत्मा है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन लोकसाहित्य के मूल स्वरूप को उद्घाटित करने के साथ उनके युगानुरूप परिवर्तन के इतिहास को प्रस्तुत करती है।

लोकसाहित्य परम्परा पोषक और संस्कृति संवाहक होता है। इसमें युगानुरूप परिवर्तन बहुत धीमी गति से और आंशिक ही होता है, इसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखकर यदि प्रयोग किये गये तो वे लोक–स्वीकृत और शिष्ट–समाहित हो सकते हैं। कुछ समीक्षक लोकसाहित्य को मूलरूप से विद्यमान होने के पक्षधर हैं। इसके अनुसार इनमें परिवर्तन या प्रयोग उसकी विकृति के परिचायक हैं, लेकिन युगाग्रह और विकास को महत्व देने वाले परिवर्तन एवं प्रयोग के प्रतिष्ठापक हैं।

लोकसाहित्य लोकअर्जित भावनाओं के सरल–सहज उद्गार हैं। अतः उनमें परम्परा स्वतः संयुक्त हैं। शिष्ट साहित्य में परम्परा कृत्रिम और अपेक्षाकृत आरोपित रहती है। जबकि लोकसाहित्य में यही इसका प्राण है। यही कारण है कि इसमें कवि का श्रेय एक व्यक्ति न लेकर सभी लोकगायक ग्रहण करते हैं और इसका प्रत्येक गायक कवि नहीं, लोकगायक या लोकगीतकार कहलाता है। इसी आधार पर यह भाषा, बोली, जाति, पद के भेद को दूर करने में सक्षम और लोक को लोक बनाये रखने तथा समाज के प्रत्येक मनुज को समरस का सिद्धांत संस्कार के रूप में प्रदान करने का आयोजन करता है। ये लोकगीत ही हमारे जीवन के अलिखित, व्यावहारिक शास्त्र हैं, जो परम्परा से प्रचलित–प्रतिष्ठित हैं। आज इसकी उपेक्षा के कारण ही मनुज लोक या समाज से हटा है, संस्कृति और भूमि से कटा है। ऐसे संक्रमण–समीक्षक होकर भी संस्कार–विपन्न भ्रम के भँवर में फँसे हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि परम्परा पर आधारित लोकगीत अथवा

लोकवार्ता की समग्र लोकविधाएँ जिजीविषा की उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि जब तक लोक रहेगा, लोकसाहित्य जीवित रहेगा।

लोककलाएँ प्रदर्शनकारी नहीं होतीं, वे लोक के लिये अर्पित–समर्पित और सहज निर्मित स्फुरित लोक रचना होती है, जो संस्कार व वातावरण के अनुरूप सहज–अभिव्यक्त होती है। इधर लोककलाओं को प्रदर्शन और विचित्रता–निदर्शन का पर्याय मानकर उसे धिकृत–विकृत करने का जो उपक्रम किया जा रहा है, वह क्षम्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ प्रदर्शनकारी लोककलाओं से आशय उसके जन–मन के मध्य लोकप्रिय होने और व्यवसाय के रूप में इसे पीढ़ी–दर–पीढ़ी संचालित रखने से है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यवहार समझकर कलाकार इस क्षेत्र में अग्रसित हों और लोककलाओं को प्रदर्शनकारी बना दें। लोक सांस्कृतिक कार्यक्रमों का महत्वपूर्ण संयोजन–प्रदर्शन से संपृक्त होकर प्रकारान्तर में लोकनाट्य के प्रभाव व दबाव को ही व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ नाचा या गम्मत लोकनाट्य है, लेकिन लोक–कीर्तन की परम्परा में अवस्थित लोकगाथा पंडवानी भव्य मंचों में जाकर लोकनाट्य से संयुक्त हुआ, तद्नुरूप पंडवानी–गायक (और गायिका भी) अभिनय के द्वारा हाव–भाव की विविध अभिव्यक्ति करने लगे। इस तरह लोककथाओं पर अभिनेयता का आकर्षण बढ़ा। इसी भाँति छत्तीसगढ़ी लोकगाथा ''लोरिक चंदा'' में एकल अभिनेय अथवा विविध पात्रों के द्वारा लोकगाथा के साथ नाट्य प्रस्तुति का प्रभाव उसकी प्रदर्शनीयता की ही प्रतीति है, इसके विपरीत ढोला मारू, सरवन, गोपी–चंदा आदि लोकगाथा के रूप में अक्षुण्ण हैं, लेकिन निकट भविष्य में लोकनाट्य से ओतप्रोत होकर ये भी प्रदर्शनकारी होंगी, ऐसा विश्वास बनता है, लोरिक चंदा को जहाँ प्रदर्शनकारी लोकनाट्य का स्वरूप देते हुये श्री लक्ष्मण चंद्राकर ने नव्य प्रयोग किया, वहीं उसकी प्रारंभिक प्रस्तुति को अक्षुण्ण रखते हुये श्रीमती रेखा निषाद व सोन सागर चनैटी पाटी कचांटुर ने साभिनय प्रस्तुति के द्वारा इसका मनमोहक प्रदर्शन किया है। पंडवानी की ''बेदमती शाखा'' जहाँ प्रदर्शनकारी लोककला की श्रेणी में आकर भी लोककीर्तन व लोकगाथा के सन्निकट हैं, वहीं इसकी कापालिक शाखा लोकनाट्य के अधिक समीप है। प्रथम शैली के प्रमुख लोककलाकारों में श्री झाडूराम देवांगन, पूनाराम निशाद आदि हैं, जबकि दूसरी शैली में पद्मश्री तीजन बाई प्रसिद्ध है। भरथरी व ढोला की लोककथात्मक प्रस्तुति जहाँ श्रीमती सुरूज बाई की विशिष्टता है, वहीं उसकी लोकनाट्य प्रस्तुति श्रीमती रेखा निषाद की निजता है। सुवा–गीत में बाह्य प्रयोग एक बार स्वीकृत है, लेकिन उसे द्रुतगति से गाकर और शास्त्रीयता का पुट देकर आकर्षक ढंग की प्रस्तुति का दावा करने वालों को यह कहने में संकोच नहीं है कि लोकगीत में लोकसंगीत का रहना और लोकधुन विशेष के कारण उसकी पहचान है। प्रत्येक लोकगीत लोकछंद है, जिन पर कविता लिखकर आंचलिक कवि लोकप्रिय हो सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य अनुसंधान का क्षेत्र व्यापक है और अनेक अनुसंधान संबंधित कार्यों द्वारा लोकसाहित्य के विविध आयाम में शोध की प्रस्तुति कर नये दशा एवं दिशा व्यक्त किया जा सकता है।

प्रस्तावना –

जनमानस में स्थित आश्चर्य और भय ने क्रमशः ज्ञान, जिज्ञासा और धर्म को जन्म दिया, इसी क्रम में आगे चलकर संस्कृति का भी उद्भव हुआ। धार्मिक भावना ने अनेक रीति–रिवाजों व लोकविश्वासों का परिपालन किया है। अंचल विशेश के रंग ने भी उन्हें प्रभावित कर लोक साहित्य का रूप–विन्यास किया है। युगानुरूप आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन की क्रिया और अनावश्यक तत्वों को छोड़ने तथा नये तत्वों को जोड़ने की परम्परा 'लोकवार्ता' में रही है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'दे लोकम' प्रथम बार 'लोक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आर्य और आर्येत्तर जातियों के सम्पर्क से लोक और वेद की उत्पत्ति हुई। 'सिद्धांत कौमुदी' में 'लोक' शब्द का अर्थ 'दिखाई देने वाले स्थान' से है। अंग्रेजी के 'लुक' से इसका समीकरण किया किया जा सकता है। पाणिनि ने 'लोक' और 'सर्वलोक' का व्यवहार किया है। आज 'लोक' शब्द की विशालता में सभी कुछ समाविष्ट है। पहले लोक का अर्थ संकुचित था और आज 'लोक' हमारे जीवन का महासमुद्र है, उसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहते हैं। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक कृत ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है।

लोकवार्ता के अर्थ को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूपों में लिया है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने 'लोकायन' के अर्थ में इसे संकुचित कर दिया है। लोकायन में रीति–रिवाज और अंधविश्वास ही समाहित है। यद्यपि डॉ. सत्येंद्र ने लोकवार्ता का प्रयोग किया है तथापि इस शब्द के प्रसार–प्रचार का श्रेय डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल और श्रीकृष्णनंद गुप्त को है। लोकवार्ता जनता की निधि है, जनता के सन्दर्भ में जो कुछ कहा–सुना जाता है, सभी कुछ लोकवार्ता के अन्तर्गत आते हैं।

लोक साहित्य को कुछ विद्वान लोकवाणी मानते हैं, किन्तु लोकवाणी के अन्तर्गत लोक साहित्य सन्निहित रहता है। सम्पूर्ण सार्थक अभिव्यक्ति जब लिपिबद्ध हो जाती है, तब वह साहित्य का रूप धारण कर लेती है तथा अलिखित एवं मौखिक साहित्य लोक साहित्य की संज्ञा पाता है। लोक साहित्य में शिल्प भले ही अपरिष्कृत व अपरिमार्जित हों, किन्तु भावना–पक्ष हृदयस्पर्शी तथा भाषा सरल व बोधगम्य होती है। यही कारण है कि मौखिक होते हुये भी ये पारम्परिक होते हैं, 'अक्षर' होते हैं।

लोकवार्ता –

''अर्वाचीन मानव के लिये लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक धात्री सर्वभूत माता–पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव–यही हमारे नये जीवन के अध्याय–शास्त्र हैं। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक–पृथ्वी मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कलयाणतम रूप है।''[1] आधुनिक संदर्भों में इसे परिभाषित करते हुये डॉ. श्याम परमार लिखते हैं कि ''आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जनसमाज, जिसमें पूर्व संचित परम्परायें, भावनायें, विश्वास और आदर्श सुरक्षित है तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक प्रकार के विषयों के अनगढ़, किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, ये अर्थ में होता है।''[2]

फोक की उत्पत्ति 'एंग्लोसेनसन' शब्द 'फोक' से हुई है, जिसका जर्मनी में 'वॉक' के रूप में प्रयोग हुआ। ''अंग्रेजी भाषा–भाषी इसका अर्थ गँवार, अनपढ़, अशिक्षित एवं मूल जाति से लेते हैं। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में इस शब्द की व्याख्या ''आदिम जाति समाज के सदस्य के रूप में तथा विस्तृत अर्थ–सभ्य से राष्ट्र की जनता है।''[3] हिन्दी में इसका में पर्यायवाची 'लोक' स्वीकार लिया गया है। लोक की उत्पत्ति एंग्लोसेक्शन शब्द 'लार' से हुई, जिसका अर्थ सीखने से अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस तरह 'फोक–लोर' का अर्थ हुआ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान'। बहुत पहले 'पापुलर एंटीक्विटीज' शब्द प्रचलित था। 'फोकलोर' की संज्ञा तो एक अंग्रेज पुरातत्वविद् विलियम जॉन टॉमस ने सन् 1846 से दी थी और तब से प्रायः सभी देशों ने इसी नाम को अपना लिया है।

'लोकवार्ता' का क्षेत्र अत्यंत विशाल है, जिसके अन्तर्गत लोक साहित्य, लोक अनुष्ठान, लोक विश्वास, लोक धर्म और लोक संस्कृति सभी कुछ समाविष्ट है। डॉ. श्याम परमार के अनुसार–''लोकवार्ता में लोक की परम्परागत भावनायें, चेतनागत सभी अभिव्यक्तियों का लेखा–जोखा निहित है। अतः लोकवार्ता केवल प्राचीन अवशेष मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता, वरन् जीवित लोक भावों, लोक अभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवाहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है।''[4] लोकवार्ता के अन्तर्गत समाहित विभिन्न क्षेत्रों की चर्चा करते हुये डॉ. सत्येंद्र लिखते हैं–''लोकवार्ता वस्तुतः आदि मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है। वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषधि के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।''[5]

लोक सहित्य–

लोक सहित्य मनुष्य की सहजाभिव्यक्ति है। न ही उसे कोरे आदर्श से प्रेम है, न ही कटु यथार्थ से लगाव, न ही उसमें उपदेशात्मक वृत्ति होती है और न ही विद्वतापूर्ण चिंतन। लोक सहित्य जनमानस से उत्पन्न होता है। ''लोक सहित्य के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति होती है, जिसमें आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों। परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जिसमें लोक मानस की प्रवृत्ति समायी हुई

हो, किन्तु वह कृतित्व लोक मानस के सामान्य तत्वों से मुक्त हो, उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रखते हुये भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकारें।''[6] अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये आदिम मानव ने अपनी बुद्धि अनुसार उन्हें अनायास रागात्मक रूप देकर लोकगीतों का सृजन किया है। पेरी ने इसी आधार पर इसे 'आदिम मानव का उल्लासमय संगीत' माना है, इससे यह बात भी ध्वनित होती है कि आदिमानव की सृष्टि के समय ही लोकगीतों का जन्म हुआ होगा। जंगल में जैसे पक्षी गा उठते हैं, ठीक उसी तरह लोकगीत हृदय से फूट पड़ते हैं। डॉ. सत्या गुप्त के अनुसार–''इन गीतों में न कला है, न भाषा–सौष्ठव। ये गीत तपते सूर्य के नीचे खेतों में काम करते हुये लोकमानस ने गया है। चूल्हे पर कसार भूनती तथा दीपक जलाती नारी ने गुनगुनाये हैं, जिस पर अन्तर को जो भी स्पर्श कर पाया, तुरन्त वही भाव बोल–चाल की भाषा में गीत बनकर फूट पड़ा है।''[7] लोक साहित्य में बिखरे भाव होते हैं, भाषा अनपढ़ और अलंकार रहित होती है। रस–सृष्टि के वैशिष्ट्य के कारण उसमें काव्य का अनुपम और स्वाभाविक आनंद मिलता है। अनादिकाल से चले आये ये लोकगीत लोकजीवन की शाश्वत अनुभूति को अभिव्यक्त करते है। डॉ. रघुवंश का मंतव्य है–''काव्याभिव्यक्ति में कवि की स्थिति स्पष्ट और निश्चित् है। पाठक या रसज्ञ साधारणीकरण के स्तर पर आनंद (रसबोध) प्राप्त करता है, परन्तु दोनों ही स्थितियों में कवि (सृष्टा रूप में) और पाठक (रसज्ञ के रूप में) की दो भिन्न स्थितियाँ मानी जायेंगी, पर जहाँ तक लोकाभिव्यक्ति का प्रश्न है, इसमें दो स्थितियाँ सम्भव नहीं है। यहाँ सृष्टा और उपभोक्ता की समस्थिति है। दोनों का एक ही व्यक्तितत्व में समाहार हो जाता है। काव्य की भावभूमि के इस अन्तर के कारण लोक–काव्य में रसनिष्पत्ति की स्थिति प्रतिपादित होना सम्भव नहीं है।''[8]

लोकगीत–

लोकगीत के महत्व को प्रतिपादित करते हुये डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि ''ईट–पत्थर के प्रेमी विद्वान यदि धृष्टता न समझें तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्राम–गीत का महत्व मोहनजोदड़ो से कहीं अधिक है। मोहनजोदड़ो सरीखे भग्नस्तूप ग्रामगीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।''[9]

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में इसे परिभाषित करते हुये लिखा गया है कि ''लोकगीत न नवीन होते हैं, न प्राचीन। ये तो जंगल में स्वयं अंकुरित होने वाले जंगली वृक्ष के समान होते हैं, जिनकी जड़ें सुदूर अतीत में मिलती हैं, किन्तु इस वनैले वृक्ष में नये–नये पत्ते आते हैं, नये–नये फूल–फल भी लगते जाते हैं। इस प्रकार ये लोकगीत पुरातन होते हुये भी चिरनवीन होते हैं।''[10] ऐसा अनुमान है कि सुकुमार भाव–भंगियामयी नारियों ने ही पुरूषों की अपेक्षा लोकगीतों की सृष्टि अधिक की होगी। ये लोकगीत नृत्य और संगीतकला के योग से अधिक रंजक और मनोहारी हो जाते हैं।

लोकगीत जहाँ गीतिकाव्य के समान संक्षिप्त होते हैं, वहीं लोकगाथाएँ प्रलंबगीत की परम्परा का निर्वाह करती हुई आख्यानक प्रधान होती है। इनमें रहस्य, रोमांच का समावेश होता है। डॉ. मेरे के अनुसार–''बैलेड छोटे–छोटे परिच्छेदों में रचित सीधी–सादी जीवन कविता है, जिसे कोई लोकप्रिय या चित्रात्मक रूप में कही गई है।''[11] लोकगाथाएँ काफी विस्तृत तथा वर्णनात्मक होती है। अतः सब लोग उन्हें कंठस्थ नहीं कर पाते। कुछ विशेष लोग विशेष ढंग से गाकर लोकगाथा विशेषज्ञ बन जाते हैं। उदाहरण के लिए छत्तीसगढ़ में देवार तथा पठारी जातियाँ लोकगाथा गाकर अपना भरण–पोषण भी कर लेती है।

गाथा–

'गाथा' का अर्थ गेय कथा है अर्थात् जो कथा गायी जाए, वह 'गाथा' कहलाती है। कथा या लोककथा गद्य की विधा है, जबकि गाथा या लोकगाथा पद्य की विधा है। गाँव में प्रत्येक व्यक्ति मिल जाएगा जो कुछ न कुछ लोकगीत जानता हो, लेकिन लोकगाथा–गायक यदा–कदा ही मिलते हैं। यह प्रलम्भगीति–रचना है। अतः इसे सभी कोई स्मरण में नहीं रख सकते। चारण परम्परा से प्रस्थित होकर ये लोकगाथाएँ आजीविका से जुड़ गयी। अनेक लोकगाथाकार आज भी जातीय गौरव, मातृशक्ति, आध्यात्मिक आस्था और प्रेम के आदर्श को लोकमंच पर प्रस्तुत करते हैं। आल्हा, पंडवानी की लोकगाथा विश्व प्रसिद्ध है, जबकि श्रवण कुमार, गोपीचंदा, लोरिकाचंदा, ढोला–मारू की लोकगाथाएँ हिन्दी–प्रदेशों में विविध रूपों में प्रचलित है। ये लोकगाथाएँ

सार्वदेशिक भी होती है, और आंचलिक भी, लघु भी होती है और वृहद्–विस्तृत भी। लोकगाथाकार अपनी रूचि और युग की माँग के अनुरूप उसमें परिवर्तन–परिवर्धन भी करता चलता है, जिसमें संगीत की विविधता, नृत्य की आंशिक छटा एवं भाव–प्रवणता का त्रिकोणात्मक रूप उपलब्ध होता है। यद्यपि इन गाथाओं में इतिवृत्तात्मकता होती है तथापि इनका संगीतिक पक्ष इन्हें रससिक्त बना देता है। ऐसा अनुमान है कि लोकगाथा प्रबंध–काव्य और लोकगीत के बीच की कड़ी है। लोकगाथा जहाँ उपर्युक्त कारणों से लोकगीतों से अलग हो जाती है। ऐसा संभव है कि लोकगाथाओं में उपलब्ध तत्वों को प्रबंध–काव्य के आवश्यक गुणों के रूप में स्वीकार किया गया होगा। प्रारम्भ में मंगलाचरण की परिपाटी, अनेक सर्गों में परस्पर तारतम्य आदि लोकगाथा के प्रमुख गुण हैं। लोकगाथाओं में रचयिता का पता नहीं मिलता और शब्द चयन, छंद योजना और अलंकार–निरूपण की दृष्टि से सहज शिथिलता होती है। हो सकता है कि लोकगीत कभी एकांत में भाव–प्रवण मनुज को व्यंजित हुए होंगे, किन्तु लोककथा एक व्यक्ति के द्वारा, दूसरे व्यक्ति को सुनाई गई होगी। दूसरे शब्दों में–लोकगीत गायन के लिए एक व्यक्ति पर्याप्त रहा होगा, लोककथा के लिए कम से कम दो व्यक्ति वक्ता और श्रोता अवश्य रहे होंगे। शीत की ठिठुरन को झेलने के उपक्रम में अँगीठी के चारों ओर बैठे लोगों को वयोवृद्ध ग्रीष्म रात्रि की शीतल पुरवैया के झोंकों में झूलते शिशु मन को बूढ़ी दादी तथा वर्षा में छिपे, गृह में सिमटे लोगों को परिवार के भारवाहक मनुज परम्परा–प्रदत्त कथाओं का किस्सागोई के क्रम में सजीव–सप्राण, सरल–सहज अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करते हैं। मुहावरों और कहावतों से गुंफित ये लोककथाएँ काव्यात्मक सौंदर्य और रस–निरूपण में अपनी सानी नहीं रखती। लोककथाकार द्वारा प्रस्तुत कथा का ढंग, सुनाने और सुनने के आधार पर कहानी–शैली से पृथक् होता है।

लोककथा–

लोककथाओं में सहज वर्णनात्मकता, घटनाक्रम, प्रचलित लोकविश्वास नायक की दैवीय महत्ता का स्वीकरण तथा अलौकिक चमत्कार आदि गुण मिलते हैं। लोककथाएँ प्रायः कथाशिल्प की भाषा में चरित्र–प्रधान न होकर घटना–प्रधान होती है। इनकी भाषा अनगढ़, सहज–सरल, सुबोध होती है। ये जंगल में खिलते फूल के समान स्वाभाविक सुगंध फैलाने वाली होती है। लोककथाओं का आकार संक्षिप्तता का विस्तार लोककथाकार की क्षमता पर निर्भर होता है। लोककथाएँ कभी मनोरंजन के साथ–साथ मानव के सुख–दुख की कथा का जाल बुनती रही होंगी। ''मानव–शास्त्र के तत्वज्ञों का कहना है कि मानव–मन में जो शाश्वत बाल–भाव समाया रहता है, उसकी भाषा, साहित्य, उसकी भावाभिव्यक्ति कथा ही है।''[12] लय–बद्ध संवाद के रूप में नाटक की परम्परा का निर्वाह लोकनाट्य में होता है। इनमें गीत भी होते हैं, संगीत भी होता है। ये संवाद गद्य में भी हो सकते हैं, किन्तु अधिकतर ये पद्यबद्ध होते हैं। प्रकृति का खुला मंच लोकनाट्य के लिए पर्याप्त है। छत्तीसगढ़ में रामलीला, रहसलीला (रासलीला), नाचा–गम्मत, डिड़वानाच आदि लोकनाट्य के अन्तर्गत आते हैं।

लोकनाट्य–

लोकनाट्य में शिष्ट नाटक की तरह न भव्य रंगमंच होता है और न ही महँगी प्रदर्शन–योजना। इसका लोकमंच मंचविहीन रंगमंच कहा जा सकता है। ग्राम के चौपाल या दो–चार सामान्य तख्त और और वह भी अनुपलब्ध होने पर जमीन में दरी डालकर प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया जाता है। जिन ग्रामों में बिजली नहीं है, वहाँ मशाल या गैसबत्ती से ही लोकमंच जगमगाता है। कलाकार अपने ही दैनिक उपयोग किये जाने वाले परिधान और अलंकरण को पहनकर मंच पर उतर आते हैं। चाक, काजल और कोयले का प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जाता है। हमें इसके लिए विशिष्ट मेकअप मैन की न जरूरत होती है, न वे कृत्रिम श्रृंगार करते हैं। लोकनाट्यों में पुरूष ही महिला का अभिनय कर लेते हैं। आज हिन्दी में आंचलिकता, लोकनाट्य प्रभाव और नुक्कड़ नाटकों का दबाव इन्हीं कार्यक्रमों की ओर आकर्षित होने का प्रतिफलन प्रतीत होता है। ये लोकनाट्य की सहस्त्र वर्षों से लोकमानस के जनरंजन के कारण रहे हैं।

जनता के द्वारा प्रचलित उक्ति जो कि सूत्र के रूप में व्यक्त होती है, लोकोक्ति कहलाती है। ज्ञानवद्ध, वयोवद्ध के द्वारा अनुभूतियों को संक्षिप्त सूत्र में व्यक्त करने की क्षमता लोकोक्ति में सन्निहित होती है।

तुक के प्रति आग्रह, ध्वनि–साम्य के प्रति रूचि और लय की प्रधानता लोकोक्ति की विशेषता है। लोकोक्ति के मूल में मानव का अनुभव ही सन्निहित है, जिसमें युग–युग के जीवन का स्पंदन मिलता है। ग्रामीण वातावरण से संबंधित ये लोकोक्तियाँ और कुछ नहीं, ग्रामीणों का ज्ञान–कोश है। डॉ. भालचंद राव तैलंग के अनुसार–''छत्तीसगढ़ी समाज में जीवन के प्रिय–अप्रिय सत्य, बुद्धि अनुभव के ज्ञान, स्थानीय व्यक्ति तथा वस्तुओं का निदर्शनलय प्रधान वाक्यों में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकट होते हैं।''[13] लोकोक्ति के अन्तर्गत पहेली, मुहावरे व कहावतें आते हैं। पहेली बुद्धि का मापदण्ड है। पहेलियों में प्रयुक्त वस्तुओं के द्वारा अप्रस्तुत का संकेत मिलता है। ''पहेलियाँ एक प्रकार से वस्तु को सुझाने वाले उपमानों से निर्मित शब्द चित्रावली हैं, जिनमें चित्र प्रसतुत करके पूछा जाता है कि यह किसका चित्र है।''[14] पहेली को 'बुझॉवल' या 'जनाउल' कहा जाता है। उदाहरणार्थ कुछ पहेलिकाएँ प्रस्तुत है :–

(1) **उड़गा बइला के उड़गा सींग, उड़गा नाचे टींग–टींग (ढेकी)**
(ठूठ बैल के ठूठ सींग है, वह मस्त होकर नाचता है।)

(2) **तोर ममा के नौसा गाय, रात चरै दिन बढ़ जाय। (तारे)**
(तेरे मामा के पास नौ सौ गायें है, जो रात को चरती और दिन को बंद की जाती है।)

छत्तीसगढ़ी हाना या कहावतें तथ्य और तत्व को रोचक और संक्षिप्त रूप में कहने का विशिष्ट ढंग है :–

बड़े–बड़े बोहा जांय, गड़रिया कहै मोका पार लगावै।
(बड़े–बड़े बह गये, गदहा कहे कितना पानी)

मुहावरें वाक्यांश हैं, जबकि लोकोक्ति प्रायः पूर्ण वाक्य–रचना है। यही कारण है कि जब इनका वाक्य प्रयोग किया जाता है, तब मुहावरे में एक वाक्य बनाकर इसकी सिद्धि कर ली जाती है, किन्तु जबकि लोकोक्ति या कहावत का प्रयोग किया जाता है, तब एक वाक्य रचना के साथ दो या तीन वाक्य और जोड़ दिये जाते हैं। 'कहावत' शब्द निर्दिश्ट करता है कि 'कहाँ–आवत' अर्थात् परम्परा से प्रचलित उक्ति का कथन ही कहावत या लोकोक्ति है। इनका उद्‌भव प्रायः ग्राम की गोद में हुआ है। यही कारण है कि इनमें देशज शब्दों की प्रचुरता है। 'मुहावरे' 'मुह आव दे' अर्थात् मैं मुख (मूल) हूँ, इसमें घड़–जोड़कर वाक्य–रचना बना लो। यह संदेश संप्रेषित करती है। इस आधार पर छत्तीसगढ़ी में इसकी व्युत्पत्ति सटीक प्रतीत होती है।

कुछ शोधार्थी 'ऊँट के मुँह में जीरा' को 'ऊँटवा के मुहु मा जीरा' के रूप में रूपांतरित कर छत्तीसगढ़ी लोकोक्ति का स्वरूप प्रदान करते हैं। छत्तीसगढ़ी लोकमानस ने न ऊँट देखा है और न ही यहाँ जीरे का प्रयोग होता है। आज भी पारम्परिक व्यंजन और साग–भाजी में जीरे का व्यवहार नहीं होता। इस लोकोक्ति की तरह 'हाथी के पेट सोंहारी म नहं भरै' अर्थात् 'हाथी के पेट पूरी से तृप्त नहीं होता' यहाँ परम्परा से प्रतिष्ठित है। इसी तरह कुछ लोग मानस या तुलसी का प्रभाव कहकर तुलसीदास के अधोलिखित दोहे का छत्तीसगढ़ीकरण कर देते हैं, जो गलत है। दोहा है –

आवत ही हरशे नहीं, नैनन नहिं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइए, कंचन बरसे मेह।।

इसी भाव–साम्य पर आधारित छत्तीसगढ़ी लोकोक्ति यहाँ प्रचलित है।
बिन आदर के पहुना, बिन बुलाए घर जाए।
ओसारी म बइठ के, सूरा बरोबर खाए।।

लोकगीतों में रागात्मक वृत्ति होने के कारण लोकसंगीत की सृष्टि होती है। प्रारम्भ में संगीत शैशवावस्था में था। जैसे–जैसे मानव सुसंस्कृत होता गया, वैसे–वैसे संगीत भी परिष्कृत होता चला गया। लोकगीतों में लोकसंगीत और लोकनृत्य की उपयोगिता बताते हुये डॉ. श्याम परमार लिखते हैं–''गीत में संगीत भावप्रधान शाब्दिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और नृत्य में भावनाएँ अभिव्यक्ति के हेतु आंगिक मुद्राओं के रूप में प्रकट होती है। एक मूलतः लयप्रधान है और दूसरा ताल प्रधान है।''[15]

उपसंहार –

लोकमानस में गीत, संगीत और नृत्य उसी तरह एकत्र हैं, जैसे प्रयाग के संगम में गंगा, यमुना एवं सरस्वती। तीनों की पृथक् और संयुक्त महिमा है, गरिमा है। हर्षोल्लास की सामूहिक व्यंजना में ये तीनों धाराएँ अभिव्यक्त होती है। इसे हम 'लोकमानस की त्रिधाभिव्यक्ति' कह सकते हैं। लोककथा या लोक–कहानी का एकत्रीकरण अपेक्षाकृत सरल होता है। कभी–कभी सर्वेक्षक को लोक–कलाकार के साथ हमेशा रहना पड़ता है, जिस अवसर पर लोककलाकार अपनी कला को प्रदर्शन करता है, सर्वेक्षक को वहाँ रहकर सामग्री संग्रह करना पड़ता है।

लोककलाकार की भाषा सीखना, उस क्षेत्र की संस्कृति और जन–जीवन से रचना–बसना शोधार्थी के लिये जरूरी है अन्यथा सूचक न उससे समरस होगा, न अनौपचारिक हो सकेगा। इसके अभाव में उससे सामग्री लेना भी मुश्किल होगा। सूचक प्रायः अवसरों पर ही स्फूर्त होते हैं। अतः ऐसे समय की तलाश में रहना और संग्रहण का कार्य करना शोधार्थी का प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।

लोकगाथायें एवं लोकगीत परम्परागत रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानांतरण के रूप में स्थानांतरित होती है। छत्तीसगढ़ी लोक साहित्य में अनेक आयाम ऐसे हैं, जिसमें अनुसंधानात्मक कार्य किये जा सकते हैं और समाज में अनेक पक्षों को उजागर करते हुये महत्वपूर्ण पक्षों में शोधकार्य द्वारा समाज को एक नया दशा एवं दिशा प्रदान किया जा सकता है।

संदर्भ–ग्रंथ

1) सिद्धांत कौमुदी–व्यंकटेश्वर प्रेस बंबई, पृष्ठ 417
2) सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति–विशेषांक)–वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ 65
3) स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर मिथालॉजी एण्ड विजेंड, वॉल्यूम–1, पृष्ठ 403
4) भारतीय लोकसाहित्य–श्याम सुन्दर परमार, पृष्ठ 11
5) ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन–डॉ. सत्येंद्र, पृष्ठ 4–5
6) लोकसाहित्य विज्ञान–डॉ. सत्येंद्र, पृष्ठ 4–5
7) खड़ी बोली का लोकसाहित्य–डॉ. सत्या गुप्त, पृष्ठ 112
8) हिंदी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) शीर्शक–लोकसाहित्य की भावभूमि में रसनिष्पत्ति–डॉ. रघुवंश, पृष्ठ 503
9) छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय–श्यामचरण दुबे, भूमिका अन्तर्गत।
10) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका–आर. विलियम्स, वॉल्यूम–9, पृष्ठ 445
11) दो इंग्लिश बॉलेड–ए राबर्ट ग्रेव्हम–भूमिकातंर्गत, पृष्ठ 8
12) लोकसाहित्य की भूमिका–सत्यव्रत अवस्थी, पृष्ठ 71
13) छत्तीसगढ़ी, हल्बी, भतरी बोलियों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन– भालचंद्र राव तैलंग, पृष्ठ 332
14) छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन–दयाशंकर शुक्ल, पृष्ठ 329
15) भारतीय लोकसाहित्य– श्याम परमार, पृष्ठ 81